ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBBIL04292
RNI REG. NO. UPBBIL/2014/66218 PP. NO.- 179-182
ISSN NO.-2347-2944
Vol.-9, No.-II, Issues-10 YEAR- Dec -2018

भारत में प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजना के समय मौद्रिक पद्धति

अनलेश कुमार
एसोसिएट प्रोफेसर व विभागाध्यक्ष अर्थशास्त्र विभाग, नेशनल पी.जी. कालेज, भोगाँव–मैनपुरी, (उ0प्र0), भारत

Received- 02.11.2018, Revised- 07.11.2018, Accepted - 10.11.2018 E-mail: dranleshau@gmail.com

सारांश : सन् 1861से पूर्व नोट निर्गमन का कार्य बम्बई, कलकत्ता और मद्रास के प्रेसीडेन्सी बैंकों को सौंपा गया था प्रत्येक बैंक के नोटों का चलन उसके क्षेत्र तक ही सीमित रहता था। क्योंकि भारतीय जनता का विश्वास सिक्कों के प्रति अधिक रहा इसलिए नोटों का चलन अधिक लोकप्रिय नहीं रहा।

कुंजीभूत शब्द– विश्वासाश्रित, अनुपातिक कोष प्रणाली, रजत कोष, बेलोचदार, भारतीय मुद्रा प्रणाली।

विश्वासाश्रित पद्धति–सन् 1861 के पश्चात् नोट निर्गमन का कार्य भारत सरकार के अधीन आ गया। इस नई व्यवस्था के अन्तर्गत भारत सरकार 4 करोड़ रूपये के तुल्य नोटों का निर्गमन सरकारी प्रतिभूमियों को कोष में रखकर कर सकती थी। इस सीमा के उपरान्त नोटों की निकासी के लिए शत–प्रतिशत स्वर्ण अथवा रजत कोष की आवश्यकता होती थी। इस प्रकार 4 करोड़ रूपये तक के नोट बिना स्वर्ण अथवा रजत कोष के निर्गमित किये जा सकते थे। इन 4 करोड़ रूपये के नोटों का चलन सरकार के प्रति जनता के विश्वास पर आधारित था।

आरम्भ में केवल 10 रूपये के नोटों की निकासी की गई। सन् 1910 तक 5, 10, 50 तथा 100 रूपये के नोट चलन में आ गये थे। 1911 में नोट निर्गमन की सीमा 4 करोड़ से बढ़ाकर 14 करोड़ रूपये कर दी गई। तत्पश्चात् इस सीमा को और बढ़ाना पड़ा। 31 मार्च, 1931 तक नोटों की कुल मात्रा 68.97 करोड़ रूपये थी। इन नोटों के निर्गमन के हेतु स्वर्ण एवं रजत कोष भारत तथा इंगलैंड में रखे गये। स्वर्ण एवं रजत कोष का लगभग 80 प्रतिशत भाग भारत सरकार के खाते में जमा था, क्योंकि 4 करोड़ रूपये की सीमा के उपरान्त नोटों के निर्गमन के लिए शत–प्रतिशत स्वर्ण रजत कोष रखना अनिवार्य था, इसलिए यह पद्धति अत्यन्त बेलोचदार सिद्ध हुई।

प्रथम महायुद्ध काल में नोटों की बढ़ती हुई माँग विद्यमान पद्धति से पूरी नहीं हो सकती थी। इसलिए नोटों की विश्वासाश्रित सीमा 14 करोड़ रूपये से बढ़ाकर 1919 में 120 करोड़ रूपये कर दी गई। नोटों के निर्गमन में निरन्तर वृद्धि होती गई। युद्ध काल में नोटों की पूर्ति अग्रांकित प्रकार थी–

युद्ध काल में नोटों की पूर्ति लगभग 3 गुना बढ़ी। नोटों के प्रति कम विश्वास होने के कारण कुछ समय के लिए भारत के विभिन्न भागों में सिक्कों की तुलना में नोट बट्टे (Discount) पर चले। यह बट्टा 19 प्रतिशत तक पहुँच गया था।

अनुपातिक कोष प्रणाली– नोटों में परिवर्तनशीलता किस प्रकार लाई जायें? इस समस्या के सुलझाने के लिए मई 1919 में बेबिंगटन स्मिथ समिति की नियुक्ति की गई। इस समिति ने भारत के लिए अनुपातिक कोष पद्धति को अपनाने के लिए सुझाव दिया। इस इस पद्धति के अन्तर्गत कुल निर्गमित पत्र–मुद्रा का 50 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा रजत कोष में रखना था। शेष पत्र–मुद्रा का 50 प्रतिशत भाग स्वर्ण अथवा रजत कोष में रखना था। शेष पत्र–मुद्रा के लिए सरकारी प्रतिभूतियाँ, कोषागार विपत्र (Treasury-bills) या स्टलिंग प्रतिभूतियों का रखा जाना आवश्यक कर दिया गया। 1920 में विनिमय दर गिरने के कारण भारत सरकार ने मुद्रा संकुचन नीति अपनाई। मुद्रा की पूर्ति इतनी अधिक घटी कि मुद्रा बाजार में मुद्रा की दुर्लभता अनुभव होने लगी। अतः इम्पीरियल बैंक के माध्यम से मुद्रा चलन 12 करोड़ रूपये से बढ़ाया गया।

रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया की स्थापना– भारतीय मुद्रा प्रणाली को सुव्यवस्थित करने के हेतु क्या उपाय किये जाएँ, इस सम्बन्ध में सुझाव देने के लिए 1926 में भारत सरकार ने हिल्टन यंग कमीशन की नियुक्ति की। कमीशन का यह सुझाव था कि मुद्रा प्रणाली को नियन्त्रित करने तथा उसका उचित प्रबन्ध करने के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना आवश्यक है। कमीशन के अनुसार केन्द्रीय बैंक को ही नोट निर्गमन का अधिकार 25 वर्षो के लिए दिया जाय। कमीशन ने यह भी सुझाया कि स्वर्ण तथा कागजी मुद्रा कोषों को मिलाकर एक कर देना चाहिये। सरकार ने केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव स्वीकार लिया।

रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 के पारित होने के पश्चात् भारतीय मौद्रिक व्यवस्था का नया युग प्रारम्भ हुआ। इस अधिनियम के अन्तर्गत नोट निर्गमन के कार्य को नियमित तथा मौद्रिक स्थायित्व को प्राप्त करने के लिए केन्द्रीयय बैंक

की स्थापना की गई। 1935 में रिजर्व बैंक की स्थापना से भारत में एक नयी मौद्रिक सत्ता की स्थापना हुई। अब नोटों के निर्गमन का एकाधिकार गवर्नर जनरल इन कौंसिल (Governor General in Council) से लेकर रिजर्व बैंक को सौंप दिया गया। ऐसा करने से मुद्रा चलन एवं साख में समन्वय बनाये रखना आसान हो गया।

लोचपूर्ण नोट निर्गमन पद्धति की आवश्यकता– भारत को दृष्टि में रखते हुए कौन–सी नोट निर्गमन पद्धति अधिक अनुकूल होगी? इसका उत्तर देते समय भारत की अर्थ व्यवस्था में मौसमी दुर्लभता को ध्यान में रखना आवश्यक था। भारत में कृषि की प्रधानता के कारण फसल काटने तथा उसको बाजारों तक पहुँचाने के लिए वित्त की आवश्यकता अधिक होती थी। जब खरीफ तथा रबी फसल की कटाई होती और उसको ग्रामीण क्षेत्रों से मण्डियों तक पहुँचाया जाता तब धन की आवश्यकता बढ़ जाती थी। यह समय अक्टूबर से अप्रैल तक रहता था, जिसको व्यस्त काल कहा गया है। दूसरी ओर मानसून के लगभग तीन महीनों में जुलाई से सितम्बर तक धन की माँग कम हो जाती थी। इस अवधि को मन्दी काल कहकर पुकारा गया। सर बैसिल ब्लैकिट के शब्दों के अनुसार मानसून ही इन दोनों कालों के मध्य मुद्रा एवं साख के परिमाण के अन्तर को बढ़ाता है। मानसून के सफल होने पर कृषि एवं व्यापार में उत्साह तथा मानसून की इस विशेषता के कारण मुद्रा की माँग में परिवर्तन आना स्वाभाविक था। दूसरी ओर यातायात के साधनों के अविकसित होने के कारण ग्रामीण व्यक्तियों को नगरों से वस्तुओं को क्रय करने में कठिनाई होती थी जिसके परिणामस्वरूप फसलों की विक्री से प्राप्त मुद्रा ग्रामीण क्षेत्रों में ही रूकी रह जाती थी। मुद्रा चयन का चलन वेग न्यूनतम होने के कारण देश में मुद्रा चलन की खपत की सम्भावनायें अधिक हो गई। अतः भारत के लिये एक ऐसी मौद्रिक व्यवस्था की आवश्यकता अनुभव की गई जिसमें पर्याप्त लोच हो।

अनुपातिक कोष पद्धति में परिवर्तन– संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फैड्रल रिजर्व एक्ट के आधार पर रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 में संशोधन किया गया। इसी संशोधन के अधीन अनुपातिक कोष प्रणाली में सुधार किया गया। नोटों के निर्गमन का कार्य रिजर्व बैंक के निर्गमन विभाग को सौंप दिया गया। इस पद्धति के अन्तर्गत कोषों का निर्माण अग्रांकित चार्ट द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

इस पद्धति के अनुसार कुल कोष का 40 प्रतिशत धात्विक कोषों में (जिसमें स्टर्लिंग प्रतिभूतियाँ भी सम्मिलित हो सकती हैं) रखा गया। परन्तु स्वर्ण के सिक्के एवं छड़ें कभी भी 400 करोड़ रूपये के मूल्य से कम नहीं होनी चाहिए थी। (ब) कोष का शेष भाग रूपये के सिक्कों में, भारत सरकार की प्रतिभूतियों में तथा ऐसे विनिमय बिलों और प्रतिज्ञा–पत्रों में जो ब्रिटिश भारत में देय होंय के रूप में रखा जाता था। परन्तु भारतीय सरकार की प्रतिभूतियों की अधिकतम सीमा निर्धारित कर दी गई थी। सरकारी प्रतिभूतियाँ कुल पावनों के (भाग अथवा 50 करोड़ रूपये दोनों में से जो भी अधिक हो, से अधिक नहीं हो सकती थीं या फिर सरकारी प्रतिभूतियों की वह रकम जो गवर्नर जनरल इन–कौसिल द्वारा निर्धारित की गई हो + 10 करोड़ रूपये।

यहाँ यह बात ध्यान रखने योग्य है कि रूपये के सिक्कों एवं सरकारी प्रतिभूतियों में सम्मिलित रूप में कोष कितना रखा जा सकता है, उसकी अधिकतम सीमा निर्धारित नहीं की गई। इसका यह अर्थ है कि रिजर्व बैंक कोष का शेष 60 प्रतिशत भाग रूपये के सिक्कों तथा प्रतिभूतियों में रख सकता था। देशी बिलों अथवा प्रतिज्ञा–पत्रों में कोष का रखना अनिवार्य नहीं था। जबकि रिजर्व बैंक को मुद्रा बाजार में वित्तीय दुर्लभता को दूर करने के लिए इनका क्रय करना आवश्यक होता था। दूसरी ओर रिजर्व बैंक अधिनियम ने विनिमय बिलों एवं प्रतिज्ञा–पत्रों के क्रय करने की कोई अधिकतम सीमा भी निर्धारित नहीं की थी जिसका यह परिणाम हो सकता था कि रूपयों के सिक्कों तथा सरकारी प्रतिभूतियों का अंश कम करके विनिमय बिलों की रकमों में वृद्धि करने की अवांछनीय क्रिया भी कर सकता था। उदाहरणार्थ, रिजर्व बैंक अधिनियम में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं था जिसके द्वारा रिजर्व बैंक को कुल कोष के 50 प्रतिशत तक बिल क्रय करने से रोक दें। शेष 40 प्रतिशत वह स्वर्ण अथवा स्टर्लिंग प्रतिभूतियों में रख सकता था और 10 प्रतिशत रूपये के सिक्कों एवं सरकारी प्रतिभूतियों में। विनिमय बिलों तथा प्रतिज्ञा–पत्रों पर किसी भी अनुसूचित बैंक की गारन्टी होती थी। अतएवं ये रिजर्व बैंक के लिये तनिक भी जोखिम पूर्ण विनियोग नहीं हो सकते थे। इसलिए रिजर्व बैंक अधिनियम के अन्तर्गत रिजर्व बैंक द्वारा इन विनिमय बिलों के क्रय करने पर कोई अधिक सीमा निर्धारित नहीं की थी तो वह उचित ही थी। यदि रिजर्व बैंक कभी ऐसा अनुभव करें कि व्यापार में तीव्रता अपनी सीमा पार कर रही है और विनिमय बिल अधिक भुनाये जा रहे हैं तो वह बैंक दर को ऊँचा करके स्थिति को नियन्त्रित कर सकता था परन्तु एक भय अवश्य था। यदि रिजर्व बैंक व्यापार की मन्दी अवस्था को समाप्त करने के लिये विनिमय बिलों के क्रय करने पर प्रतिबन्धों को ढीला करना चाहता तो वहाँ सफलता संदिग्ध होती थी।

इस प्रणाली के अनुसार रिजर्व बैंक को पर्याप्त कार्य–स्वतन्त्रता प्राप्त हो गई तथा नोर्ट निर्गमन में लोच भी। संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के फेड्रल रिजर्व ऐक्ट में इस बात का प्रावधान है कि आपत्ति काल में नोटों के पीछे रखे जाने वाले

ISSN NO.-2347-2944
Vol.-9, No.-II, Issues-10 YEAR- Dec -2018

कोष की अनिवार्यता को स्थगित किया जा सकता है। यह सुविधा प्रथम बार 30 दिन से अधिक नहीं हो सकती, परन्तु आवश्यकता पड़ने पर यह 15, 15 दिन से बढ़ाई जा सकती है। ऐसा करने से पूर्व गवर्नर जनरल–इन कौन्सिल से अनुमति लेना आवश्यक है। परन्तु रिजर्व बैंक अधिनियम के अनुसार, यदि कोष न्यूनतम सीमा से नीचा गिरेगें, तो रिजर्व बैंक गवर्नर जनरल–इन–कौंसिल को उस राशि पर कर अदा करेगा जितनी राषि से कोष कम हुए हैं। जैसे–जैसे कोष की राशि कम होती जायेगी यह कर भी बढ़ता जायेगा। इस कर का उद्देश्य एक सीमा के उपरान्त नोटों के निर्गमन पर प्रतिबन्ध लगाना था।

रिजर्व बैंक की स्थापना के पूर्व के पत्र–मुद्रा कोष और स्वर्णमान कोष को मिला दिये गये और समस्त स्वर्ण कोष 1 अप्रैल, 1935 को रिजर्व बैंक को सौंप दिये गये। रिजर्व बैंक की स्थापना के पश्चात् रिजर्व बैंक के पास स्वर्ण पाट एवं सिक्कों तथा स्टर्लिंग प्रति–भूतियों में कुल मिलाकर 93.05 करोड़ रूपये के तुल्य थे। यह राशि कुल नोटों के मूल्य का 50.01 प्रतिशत थी, जबकि अधिनियमानुसार केवल 40 प्रतिशत ही पर्याप्त थी।

इस प्रणाली को निर्पेक्ष निश्चित पद्धति भी कहते हैं। यह पद्धति भारत में 20 वर्षो से भी अधिक काल तक व्यवहार में रही, परन्तु 1956 और 1957 के संशोधन अधिनियमों द्वारा इस प्रणाली को त्याग दिया गया। इस पद्धति को त्यागने के लिये दो कारण उत्तरदायी थे–

(1) प्रथम एवं द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं के कार्यान्वित करने के हेतु मुद्रा चयन में विस्तार करने की आवश्यकता अनुभव की गई। रिजर्व बैंक के कोष में विदेशी प्रतिभूतियों का जो भाग था उसका प्रयोग योजनाओं की वित्त व्यवस्था में किया जाने लगा।

(2) युद्ध काल एवं युद्धोपरान्त केन्द्रीय बैंक व्यवस्था द्वारा यह प्रवृत्ति रही कि नोटों के चलन का सम्बन्ध विदेशी कोषों से समाप्त किया जाये। नोट निर्गमन का विदेशी कोषों के साथ सम्बन्ध केवल अन्तर्राष्ट्रीय स्वर्णमान काल में ही उचित था।

1956 का संशोधन अधिनियम– रिजर्व बैंक संशोधन अधिनियम 1956 द्वारा नोट निर्गमन पद्धति में पहला परिवर्तन किया गया जो 6 अक्टूबर, 1956 से व्यवहार में आया। इस संशोधन की निम्न विशेषतायें थी–

(1) अनुपातिक कोष प्रणाली का प्रतिस्थापन न्यूनतम विदेशी कोष से किया गया जिसके अन्तर्गत (अ) 400 करोड़ रूपये की विदेशी प्रतिभूतियाँ तथा (ब) 115 करोड़ रूपये के तुल्य स्वर्ण पाट एवं सिक्के कोष में रखना निश्चित किया गया। इस प्रकार कुल कोष 515 करोड़ रूपये का निर्धारित किया गया।

(2) रिजर्व बैंक के पास कोष में जो स्वर्ण मौजूद था, 6 अक्टूबर, 1956 से पूर्व उसका मूल्यांकन 8.47512 ग्रेन प्रति रूपया अथवा 21.24 रूपये प्रति तोला (1तोला=38 औंस) की दर पर किया गया था, परन्तु संशोधन के पश्चात् स्वर्ण का मूल्यांकन उस दर पर किया गया जो अन्तर्राष्ट्रीय मौद्रिक कोष को मान्य थी। यह दर 2.88 ग्रेन प्रति रूपया अथवा 62. 50 रूपया प्रति तोला थी। इस पुनः मूल्यांकेन का यह परिणाम हुआ कि रिजर्व बैंक के जिस सोने का मूल्य पहले 40 करोड़ रूपये था, अब उसका मूल्य 115 करोड़ रूपये आंका गया। सोने का परिमाण यद्यपि पूर्ववत ही रहा परन्तु सोने के मूल्य में वृद्धि हो गई।

1957 का द्वितीय संशोधन अधिनियम– प्रथम पंचवर्षीय योजना काल में स्टर्लिंग प्रतिभूतियों का इतना अधिक प्रयोग हुआ कि 400 करोड़ रूपये के विदेशी प्रतिभूतियों के कोष को बनाये रखना कठिन हो गया। अतः 31 अक्टूबर, 1957 को रिजर्व बैंक अधिनियम में पुनः संशोधन करना पड़ा ।इस संशोधन द्वारा निम्न परिवर्तन किये गये–

(1) स्वर्ण एवं विदेशी प्रतिभूतियों का सम्मिलित कोष 200 करोड़ रूपये से कम नहीं होगा। स्वर्ण कोष (स्वर्ण पाट एवं सिक्कों) की न्यूनतम सीमा 115 करोड़ रूपये निर्धारित की गई।

(2) भावी आकस्मिक घटनाओं का सामना करने के लिए विदेशी प्रतिभूतियों के कोष को स्थगित किया जा सकता है। इस संशोधन के अनुसार रिजर्व बैंक को अपने पास किसी भी समय स्वर्ण के रूप में 115 करोड़ रूपये का न्यूनतम कोष अवश्य रखना चाहिये। विदेशी प्रतिभूतियों को कोष में रखना अब रिजर्व बैंक के लिए अनिवार्य नहीं है। यह परिवर्तन निम्न तालिका द्वारा दर्शाया जा सकता है।

1957 के संशोधन के परिणामस्वरूप भारतीय मौद्रिक प्रणाली अब अधिक लोचदार एवं मितव्ययी हो गई है। यह पद्धति सामयिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अधिक अनुकूल बन गई है क्योंकि रिजर्व बैंक व्यस्त काल (अक्टूबर से अप्रैल) में प्रथम श्रेणी के विनिमय बिलों पर उधार देकर नई मुद्रा चयन में प्रवाहित कर सकता है तथा मन्दी काल (मई से सितम्बर) में प्रतिभूतियों का विक्रय करके मुद्रा चलन को वापिस ले सकता है। अब यह प्रणाली पहिले की तुलना में आर्थिक विकास के दबाव को अधिक सहन कर सकती है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. शर्मा, डॉ0 हरिश्चन्द्र: मौद्रिक अर्थशास्त्र, साहित्य भवन, आगरा–3
2. शर्मा, डॉ0 के0एस0: डॉ0 वी0डी0 नागर, सुरेश चन्द्र शर्मा, मौद्रिक अर्थशास्त्र, गोयल पब्लिशिंग हाउस, सुभाष बाजार, मेरठ–2

3. भटनागर, कालिका प्रसादः आर्थिक एवं विचारों का इतिहास, किशोर पब्लिशिंग हाउस, परेड रोड़, कानपुर–1
4. शर्मा, प्रो0 रमेश चन्द्रः आर्थिक विचारों का इतिहास, राजीव प्रकाशन मेरठ।
5. Kock, M.H. De: Central Bakning, 3rd Ed.
6. Smith, Vera : Rational of central Banking.
7. Howterey, G. : The artop central banking (London in 1938)
8. Show, W.A. : Theory and principles of Cen tral Banking.
9. Willis, H.P. : Theory and principles of Cen tral Banking.
Harry G. Johnson:" Monetary Theory and Policy" American Economic Review, 1962
10. Kent, R.P. : Money and Banking.
11. Keynes, J.M.: A Tract on Monetary Re form.
12. Gupta, G.P.: The Reserve Bank of India and Monetary Management.

*****